तालीम की ज़मीन

*संध्या सिंह**

भाषा तालीम की ज़मीन तैयार करती है। बहुत समय से बच्चों की शिक्षा, खासतौर से उनकी भाषा का ज़ाएजा लेने की कोशिश कम ही हुई है। स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद आज भी ऐसी तालीम का मसौदा नहीं बन सका जहाँ हरेक बच्चे –किसी भी जाति, धर्म और क्षेत्र के बच्चों के लिए शिक्षा आज़ादी की ज़बान बन सके, सामाजिक चिंताएँ और सरोकार पाठ्यक्रम का हिस्सा बन सकें या फिर बच्चे अपने स्वतंत्र विचारों को अपनी भाषा दे सकें। इन सब, मुद्दों को भाषा की पढ़ाई के संदर्भ में बार-बार विचारना होगा, कुछ इस तरह कि यह सिलसिला मुहिम का रूप ले सके ताकि बच्चों की जिह्वा की अकुलाहट शब्दों में ढ़ल सके।

पिछले दिनों हिंदी का पाठ्यक्रम और नई पाठ्यपुस्तकें तैयार करते हुए शिक्षा–खासतौर से भाषा की पढ़ाई की दरकती नींव और उसके पोलेपन को शिद्दत के साथ समझने–बूझने का मौका मिला। हमारा पूरा समाज बच्चों की शिक्षा को बड़े हल्के ढंग से लेता रहा है। यहाँ तक कि शिक्षा के बुनियादी ढाँचे को समझने या बदलने की बावत पढ़े–लिखे वर्ग या बुद्धिजीवियों ने भी कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई। नतीजा यह हुआ कि देश के भावी नागरिकों की समस्याएँ भी भावी बनकर रह गईं। ऐसा क्यों हुआ कि बच्चों की पढ़ाई हमारी सोच के केंद्र में नहीं रही? दुनिया के सबसे बड़े प्रजातांत्रिक देश में बच्चों की इतनी उपेक्षा? बच्चों के हर मुद्दे पर संवेदनशीलता दिखाने वाला देश उनकी पढ़ाई के मुद्दे पर इतना असंवेदनशील क्यों? पाठ्यक्रम निर्माण के दौरान ऐसे बहुत से बुनियादी और ज़रूरी सवाल जो आमतौर पर गैर ज़रुरी समझे जाते रहे से जूझते हुए लगा – कि संभवत: इस मुद्दे पर आज तक बहुत कुछ लिखा और बोला गया पर अब करने की बारी है इस दौरान हिंदी कवि मुक्तिबोध लगातार याद आए –

जो है उससे कुछ बेहतर चाहिए
दुनिया को साफ़ करने के लिए एक मेहतर चाहिए
और वह मेहतर मैं हो नहीं पाता

*रीडर (हिंदी), भाषा विभाग, एनसीईआरटी, नई दिल्ली

वह मेहतर हमें होना होगा। आज सूचना-क्रांति का समय है। यहाँ तक कि हमारे समाज में आज भावनाएँ भी एक सूचना मात्र बनकर रह गईं हैं। (हाल के गुड़िया प्रकरण या इसी तरह की अन्य खबरों को याद कीजिए) ऐसे में बोझ रहित और अरुचिकर शिक्षा की बात करना एक चुनौती बन गई। भाषा-साहित्य की पढ़ाई के लिए यह चुनौती कुछ अधिक बड़ी थी, क्योंकि भाषा बच्चे की शिक्षा के लिए ज़मीन का काम करती है और साहित्य इस ज़मीन की सिंचाई का प्रमुख साधन है। दुर्भाग्य से इस ज़मीन का जाएजा लेने की कोशिश कम ही हुई है। ऐसे में नयी पाठ्यपुस्तकों की परिकल्पना के लिए ज़मीन बनाने का काम अभी भी बाकी है। पुस्तकों को तैयार करते समय इस मुद्दे पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया कि बच्चों को खुद-ब-खुद पढ़ने का चस्का लग जाए, किताब ऐसी हो। एक ओर शिक्षा बिना बोझ के जैसी अवधारणा थी तो दूसरी ओर ज़ानकारी का लहराता अपार समुद्र। किनारा बहुत दूर था, किताबें बनी लेकिन अगला कदम कुछ अधिक मुश्किल था। समय के तेजी से बदलने का एहसास साथ था, यह दुनिया हर क्षण नईं हो रही है, भाषा हर पल नया-नया रूप ले रही है-यह भी एहसास था, तो फिर इन तमाम बदलावों के साथ-कदम बढ़ाते बच्चों के हाथों में एक नई किताब क्यों नहीं?

इसी जज़्बे को लिए नई पाठ्यपुस्तकों के साथ शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रमों और टेलीकांफ्रेंसिंग के ज़रिये जब अध्यापकों से जुड़ने का अवसर मिला तो उनकी आँखों में नएपन की चमक तो थी पर ज़बान पर कुछ सवाल थे जो घूम फिरकर लगभग हर ऐसे कार्यक्रमों में उठते रहे। बार-बार नई किताब क्यों? तरह-तरह की हिंदी क्यों? अलग-अलग ज़वाबों वाले सवाल क्यों? वगैरह।

मुझे गांधी जी की कही एक बात याद आ रही है जो उन्होंने आज़ाद भारत के विद्यार्थियों के लिए कही थी। वर्धा में नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा का मसौदा बन रहा था तो वहाँ जाकिर हुसैन साहब, के.टी. शाह, कृपलानी, आशादेवी आदि अनेक लोग मौजूद थे।

बापू ने पूछा, "के.टी. अपने बच्चों के लिए कैसी शिक्षा तैयार कर रहे हो?"

सब चुप थे।

के.टी. ने कहा-"बापू आप ही बताइए न, कैसी शिक्षा हो?"

बापू का जवाब था-"के.टी., अगर मैं किसी कक्षा में जाकर यह पूछूँ कि मैंने एक सेब चार आने में खरीदा और उसे एक रुपये में बेच दिय तो मुझे क्या मिलेगा? मेरे इस प्रश्न के जवाब में अगर पूरी कक्षा यह कह दे कि आपको जेल की सज़ा मिलेगी तो मानूँगा कि यह आज़ाद भारत के बच्चों की सोच के मुताबिक शिक्षा है"।

गांधी जी के इस सवाल पर सभी दंग थे। शिक्षा के क्षेत्र में जब तक ऐसे माहौल का निर्माण नहीं होता कि देश का हर बच्चा ऐसे सवाल उठाने का साहस कर सके तब तक हमें बार-बार जरुरत होगी ऐसे नए पाठ्यक्रम की और नयी पाठ्यपुस्तकों की जो देश के हर कोने, हर क्षेत्र, हर वर्ग, हर जाति, हर धर्म के बच्चे के मन में ऐसे सवाल उठाने का साहस भर सके।

शिक्षा के उद्देश्य व्यापक होने चाहिए जिनमें, *"विचार और काम की स्वतंत्रता, दूसरों की भलाई और भावनाओं के प्रति संवेदनशीलता, नयी स्थितियों का लचीलापन और रचनात्मक तरीके से सामना करना, लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भागीदारी की प्रवृत्ति और आर्थिक प्रक्रियाओं तक सामाजिक बदलाव में योगदान देने के लिए काम करने की क्षमता"* (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005) प्रमुख हैं। जाहिर है ये उद्देश्य कमोबेश हर नए पाठ्यक्रम के मूल में रहे होंगे तो फिर नया क्या है? वह क्या है जो हर अगली पुस्तक के बनने के मूल में होना ही चाहिए।

रामचरितमानस की रचना करते समय तुलसीदास ने कहा था, नानापुराणनिगमागम सम्मतम् ...क्वचिदन्यतोऽपि। 'क्वचिदन्यतोऽपि' या 'कुछ और भी' की तलाश हमें नए की ओर ले जाती है। यह तलाश ही एक नई रचना को जन्म देती है और एक नयी पुस्तक को भी। 'कुछ और भी' यानी जो अब तक कहा नहीं गया या शायद कहा तो गया पर वैसे नहीं कहा गया जैसी समय की मांग है। समय की मांग क्या है? यह एक अहम सवाल है।

हर समय की अपनी आवाज़ होती है। कुछ अपने बोल होते हैं, अपने शब्द, अपने मुहावरे होते हैं और होती है अपनी भाषा जिससे संवाद किए बगैर उस समय की धड़कन यानी बच्चे के लिए कोई किताब नहीं लिखी जा सकती। यही किसी भी नयी रचना या नयी पुस्तक की ज़मीन बन सकती हैं। भाषा क्या है?

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' जब भारतेंदु हरिश्चंद्र ने यह बात कही थी वह वक्त स्वतंत्रता आंदोलन का था। जाहिर है स्वतंत्रता से भाषा के व्यापक संबंध को उन्होंने बखूबी पहचाना था। यह विडंबना ही है कि आज बहुत से हिंदी भक्त उनको याद तो करते हैं (खासतौर से हिंदी पखवाड़े में) और बार-बार उद्धत भी करते हैं लेकिन 'निज भाषा' के महत्त्व को भूल गए हैं। हम भूल गए हैं कि भाषा का व्यक्ति की आज़ादी और व्यक्ति की आज़ादी का देश की आज़ादी से क्या रिश्ता है?

भाषा साहित्य की हर नयी पाठ्यपुस्तक बच्चे की अस्मिता, निजी सोच, निज पर विश्वास और इन सबके साथ-साथ आज़ादी की ज़बान बन सकती है। अफ़सोस है कि आज़ादी के लगभग साठ वर्षों बाद भी ऐसा नहीं हुआ है। हमारे बच्चे कभी पाठों की ज़बान बोलते हैं तो कभी अध्यापक की। स्कूली माहौल उसे अपनी भाषा दे सकने में असमर्थ रहा है। ऐसा कब तक होगा? कब तक बच्चे किसी-न-किसी की ज़बान बोलते रहेंगे ? इसका नतीजा बेहद खतरनाक हो सकता है। किसी से छिपा नहीं है कि युवा होते बच्चों की एक बड़ी जमात अपराध और हिंसा की दुनिया में सक्रिय हो रही है। इसे रोकना ही होगा और इस प्रक्रिया में भाषा की पढ़ाई को नए सिरे से बार-बार विचारना होगा। क्योंकि भाषा का प्रश्न अपनी अस्मिता, अपनी ज़मीन और खुद पर विश्वास का प्रश्न है। कितने ही साल 'बाल वर्ष' के रूप में मनाए

गए। एक ओर बच्चों की मांगों को लेकर पूरा देश नए-नए शब्द गढ़ता रहा, नई-नई योजनाएँ बुनता रहा तो दूसरी ओर अपनी भाषा पाने की कोशिश में बेज़ुबान बच्चा छटपटाता रहा। एक पूरी की पूरी पीढ़ी यह पुकारते हुए बड़ी होती रही– *"हमें हमारे शब्द दो" "हम बोलना चाहते हैं" "हमारी जीभ हमारे दाँतों के नीचे अकुला रही है"* जिह्वा की इस अकुलाहट को सुनने का अवसर बन सकती है एक नयी पाठ्यपुस्तक। समय फिर हमारे हाथों में है। यह वह समय है जब पुराना अभी गया नहीं और नया बहुत कुछ आने को शेष है। यह वह समय है जबकि हम और आप सब मिलकर बच्चे को अपनी ज़बान दे सकने में सक्रिय भागीदारी कर सकते है।

भाषा की पढ़ाई के बहाने एक सचेत, जागरूक सक्रिय ऐसी बोलती पीढ़ी पैदा करनी होगी जो भाषा का बर्ताव करते समय शोर और शांति में अंतर कर सके। क्या करती है एक नई पुस्तक? दुनिया की कोई पाठ्यपुस्तक तब तक अधूरी है जब तक उनके पन्नों में रेंगते शब्दों, अध्यापक और बच्चों तथा इस विशाल दुनिया के बीच संवाद कायम न हो। एक नयी किताब द्वारा आपसी संवाद की यह प्रक्रिया सीखने-सिखाने के ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकती है, जैसा आप चाहते हैं।

(उक्त लेख पूर्व में जनसत्ता (18 फरवरी, '07) में प्रकाशित हो चुका है।)